विद्यारम्भ एवं संस्कार : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

Dr. B. B. Gohil
Associate Professor in Sociology
Smt.B. V. Dhanak College, Bagasara

बालकों के लिए विद्याध्ययन के लिए प्रारंभ किए जाने वाले इस संस्कार को 'अक्षरारंभ संस्कार' भी कहते हैं। अच्छे मुहूर्त के साथ इस संस्कार का शुभारंभ विधि-विधान के साथ कराया जाता है, जिससे बच्चा पढ़-लिखकर यशस्वी बने। इस संस्कार के शुभारंभ का माता-पिता विशेष ध्यान रखते हैं; क्योंकि बच्चे के भविष्य के लिए यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। प्राचीन काल में सन्तान की अवस्था जब पाँच वर्ष की होती थी तब उसे शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की जाती थी। पहले बच्चे द्वारा वर्णाक्षर सीखा और पढ़ा जाना विद्यारम्भ संस्कार कहा जाता था। यह संस्कार प्रायः चौल संस्कार के बाद ही किया जाता था। सन्तान के जन्म के पाँचवे वर्ष अथवा उपनयन के पहले यह संस्कार सम्पादित होता था। शुभ मुहूर्त में शिक्षक द्वारा पट्टी पर 'ओम्' और 'स्वास्तिक' के साथ वर्णवाला लिखकर बालक को अक्षरारम्भ कराया जाता था। इसमें गणपति-पूजन, गृह-देवता एवं सरस्वती पूजन का भी आयोजन किया जाता था। इसके साथ होम भी किया जाता था। बालक को पूर्वाभिमुख करके अक्षर का आरम्भ कराया जाता था। तत्पश्चात् गुरु को वस्त्र, धन, आभूषण आदि भेंट में प्रदान किये जाते थे। वस्तुतः यह संस्कार बुद्धि और ज्ञान से अधिक सम्बद्ध था। सामाजिक और सांस्कृतिक उत्थान के साथ-साथ ज्ञान और बुद्धि का भी उत्थान होता था। बालक का मानसिक और बौद्धिक गुण इस संस्कार से सबल और सशक्त होकर सामने आता था।

सृष्टि के समस्त प्राणियों में मानव जाति का स्थान सर्वोपरि है, जिसका केवल एक ही कारण विद्या है। यदि विद्या मनुष्य के पास न होती तो अन्य जीव ही उनसे अधिक सम्मान के भागीदार होते। चूंकि इस संस्कार के द्वारा क्षणभंगुर संसार में व्यक्ति के पदार्पण के बाद विद्या रूपी परम लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु श्रीगणेश किया जाता है, जो कि एक महत्त्वपूर्ण एवं दूरदृष्टि तथा दूरगामी परिणाम का कारण होता है। अतः भारतीय संस्कृति में विद्यारम्भ संस्कार का महत्त्व सभी संस्कारों में प्रमुख है, जिसके पीछे मनुष्य में मनुष्यत्व का उत्पादन करना चरम के पाँच वर्षों तक शिशु का जीवन लाड़-प्यार से भरा होता है। इस अवधि में उसकी चपलता, अज्ञानता एवं चित्त की अस्थिरता पराकाष्ठा पर होती है, अतः इस समय को अध्ययन हेतु उपयुक्त नहीं माना जाता। सामान्यतः ५ वर्ष के बाद बच्चे की बुद्धि परिपक्व होने लगती है। उसमें ग्राह्य शक्ति का अधिक आविर्भाव होने लगता है। जैसे इसीलिए भारतीय परम्परा के अनुसार विद्यारम्भ के लिए समुपयुक्त समय पाँचों अथवा पाँचवे वर्ष के बाद ही स्वीकार किया गया है और इस परम्परा में जीने वाले लोग इसी समय अध्ययन जगत में अपना पहला कदम बढ़ाते हैं। हमारी संस्कृति प्रत्येक वस्तु को परोक्ष की सत्ता से जोड़ती है। पुरुषार्थ के अलावा परमार्थ का भी अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। अतः विद्यारम्भ संस्कार में अक्षरारम्भ से पूर्व कुछ देवी-देवताओं की अर्चना भी की जाती है। अक्षरारम्भ संस्कार में विष्णु, लक्ष्मी एवं सरस्वती की पूजा प्रमुखतः मानी गयी है। चौसठ करोड़ देवी-देवताओं में इन्हीं तीनों की पूजा प्राथमिकतया क्यों होती हैं, सरस्वती श्रेयस मार्ग की अधिष्ठात्री है एवं विष्णु दोनों के मध्य एक विलक्षण समन्वय स्थापित करने वाले समन्वयक के रूप में अवस्थित हैं। इस प्रकार इन तीनों तत्त्वों के प्रति पूजा के द्वारा सम्मान प्रदर्शित कर अक्षरारम्भ के माध्यम से व्यक्ति श्रेयों मार्ग की समन्वयात्मक स्थिति में पहुँचने की मनसा बनाकर प्रयत्नशील होता है। किसी भी कार्य में देवी-देवताओं को जोड़ने की विलक्षण प्रथा अन्धविश्वास की

उपज नहीं कही जा सकती। इसमें महज वैज्ञानिकता निहित होती है। ऐसा तो लौकिक व्यवहार में नित्य प्रति अनुभव किया जाता है कि किसी भी कार्य के समय व्यक्ति को यदि विश्वास हो कि मेरे पीछे एक अत्यन्त ही वरिष्ठ सहायक सहायता करने के लिये तैयार है, तो वह व्यक्ति द्विगुण उत्साह एवं विश्वास के साथ अपने लक्ष्य साधन में प्रवृत्त होता है। ठीक इसके विपरीत कोई विशिष्ट आदमी भी किसी सामान्य कार्य करने के समय यदि अकेलापन महसूस करता है, तो उसकी हिम्मत या तो स्वाभाविक स्थिति में होती है, अथवा उससे भी निम्नस्तर की हो जाती है, ऐसा अनुभव हमें कार्य जगत् के प्रत्येक क्षेत्र में होता है और अनुभूत पदार्थ का अप्रलाप कथमपि नहीं किया जा सकता। यही तथ्य भारतीय संस्कृति की प्रत्येक विधा में निहित है। इसीलिए व्यक्ति के द्वारा किये जाने वाले प्रत्येक काम पारलौकिक शक्ति से जुड़े होते हैं, जिससे उत्साह एवं विकास में असाधारण वृद्धि होती है।

इस संस्कार के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात है कि किसी सम्भ्रान्त व्यक्ति के द्वारा बालक का अक्षरारम्भ धरती पर कराया जाता है। बच्चे का हाथ पकड़ कर अक्षरारम्भ कराने वाले व्यक्ति मिट्टी पर लिखवाने से प्रारम्भ करके विद्यादान की शुरूआत करते हैं। यदि उस शिशु को आधुनिकतम कागज एवं कलम देकर, कृत्रिमता के रंग में रंगकर अक्षरारम्भ कराया जाये, तो उसमें बच्चे के सहज स्वभाव से अन्तर्द्वन्द्व हो सकता है। मिट्टी के साथ खेलने में बच्चा एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति करता है। वह मिट्टी पर ही जन्म लेता है, चलना सीखता है, दौड़ पाता है, और हमेशा धूल धूसरित रहने की मनसा रखता है, जो बच्चे के मनोविज्ञान का सहज सिद्धान्त है। अतः सहजतापूर्वक अपने सुपरिचित उपकरणों के द्वारा यदि बालक का अक्षरारम्भ करवाया जाये तो उसके मन का खिंचाव स्वाभाविक रूप से अक्षरारम्भ में हो जाता है। इसके लिए विशेष प्रयत्न नहीं करना होता, साथ-साथ बच्चा उस पढ़ने की क्रिया को एक क्रीड़ा समझकर ही मनोगम्य कर लेता है, जो तरीका आधुनिक शिक्षा पद्धति से कहीं ज्यादा वैज्ञानिक, सहज तथा सरल है। साधारणतः पाँच वर्ष की आयु से शिक्षा का प्रारम्भ किया जाता था। सन्तान के विद्या आरम्भ करने की आयु पाँच वर्ष थी। बच्चे को लिखने के लिए पट्टी और खड़िया दी जाती थी। बच्चों के लिए विद्यालय में काली तख्ती प्रयोग में लाते हैं। उस पर वे लम्बाई की ओर से बाएँ से दाएँ सफेद वस्तु (खड़िया) से लिखते हैं।

गुरु की अनुमति :

स्नान के पूर्व विद्यार्थी को एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कर्तव्य का पालन करना होता था। वह विद्यार्थी-जीवन की समाप्ति के लिए गुरु से अनुमति की प्रार्थना तथा दक्षिण द्वारा उसे सन्तुष्ट करता था। अनुज्ञा आवश्यक समझी जाती थी क्योंकि उससे यह प्रमाणित होता था कि स्नातक गृहस्थ जीवन के लिए विद्या अभ्यास तथा चारित्रिक दृष्टि से योग्य है। 'गुरु की अनुमति प्राप्त कर समावर्तन संस्कार करना चाहिए तथा उसके पश्चात् सवर्ण तथा लक्षणान्वित कन्या से विवाह करना चाहिए। अब तक विद्यार्थी गुरु को कुछ भी नहीं देता था अतः गुरु से विदा लेते समय प्रत्येक दशा में उससे गुरुदक्षिणा के रूप में अपने सामर्थ्य के अनुसार गुरु को कुछ-न-कुछ देने की आशा की जाती थी। गुरु को पृथ्वी, स्वर्ण, गाय, अश्व, छत्र, उपानह, वस्त्र, फल तथा वनस्पतियाँ भेंट करनी चाहिए। व्यास के अनुसार दक्षिणा में केवल गौ ही देनी चाहिए। गुरु विद्यार्थी के प्रति किया हुआ उपकार अत्यन्त उच्च समझा जाता था तथा कोई भी उसका पूर्ण मूल्य नहीं चुका सकता था। 'सात द्वीपों से युक्त भूमि भी गुरुदक्षिणा के लिए पर्याप्त नहीं है।' जिसे गुरु को देकर उसके ऋण से मुक्ति प्राप्त की जा सके। यदि कोई विद्यार्थी गुरु को धन या भूमि के रूप में कुछ भी न दे सकता तो भी उसे गुरु के समीप जाकर औपचारिक रूप से उनकी अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी। ऐसे अवसरों पर गुरु प्रायः कहा करते थेः मेरे वत्स, धन की मुझे अपेक्षा नहीं है। मैं तुम्हारे गुणों से ही सन्तुष्ट हूँ।

उक्त आरम्भिक विचारों के पश्चात् संस्कार के लिए कोई शुभ दिन चुन लिया जाता था। विधि-विधान एक अत्यन्त विलक्षण कृत्य के साथ आरम्भ होते थे। ब्रह्मचारी को अपने को प्रातः काल एक कमरे में बन्द रखना पड़ता था। भारद्वाज-गृह्यसूत्र के अनुसार ऐसा इसलिए किया जाता था कि जिससे सूर्य स्नातक के उच्चतर तेज से अपमानित न हो, क्योंकि वह स्नातक के ही तेज से प्रकाशित होता है। मध्यान्ह में ब्रह्मचारी कमरे के बाहर आकर गुरु के चरणों में प्रणाम करता तथा कुछ समिधाओं द्वारा वैदिक अग्नि को अन्तिम आहुति प्रदान करता था वहाँ जलपूर्ण आठ कलश रखे जाते थे। यह संख्या आठ दिग्भागों की सूचक थी और इससे यह प्रतीत होता था कि समस्त दिशाओं से ब्रह्मचारी पर सम्मान तथा कीर्ति की वर्षा हो रही है। तब ब्रह्मचारी इन शब्दों के साथ एक पात्र से जल निकालता थाः 'जलों में रहनेवाले तथा प्रच्छन, आवृत, प्रकाश की किरण, मनोनाशक, असहिष्णु, कष्टदायी, शरीर को ध्वंस करने वाले तथा अंगों को नह करने वाले अग्नि का मैं त्याग करता हूँ। वह दीप्तीमान अग्नि जिस अंगों को नष्ट अग्नि का मैं त्याग करता हूँ वह दीप्तीमान अग्नि जिसे मैं ग्रहण करता हूँ। उसके द्वारा समृद्धि, ऐश्वर्य, पवित्रता तथा पवित्र तेज की प्राप्ति के लिए अभिषिक्त होता हूँ अन्य उपयुक्त ऋचाओं के साथ वह अन्य कलशों से स्नान करता था। ब्रह्मचारी का शरीर तपस्या और व्रत की अग्नि में तप्त हो चुकता था अतः गृहस्थ से सुखी जीवन के लिए उसे शीतलता की अपेक्षा थी, जिसका प्रतीक स्नान था जिसकी सूचना सहवर्ती ऋचाओं से मिलती थीं।

इस गौरवमय स्नान के पश्चात् ब्रह्मचारी मेखला, मृगचर्म तथा दण्ड आदि ब्रह्मचारी के समस्त बाह्य चिह्नों को जल में फेंक देता तथा एक नवीन कौपीन धारण करता था। कुछ दधि और तिल का भोजन कर वह अपनी दाढ़ी, केश तथा नखों को कटवाता और निम्नलिखित ऋचा के साथ उदुम्बर वृक्ष की टहनी से दन्तधावन करता थाः 'अपने को भोजन के लिए प्रस्तुत कर। यहाँ राजा सोम आया है। वह ऐश्वर्य तथा भोग्य के द्वारा मेरे मुख को शुद्ध करेगा।' ब्रह्मचारी भोजन तथा वाणी में संयम के लिए अभ्यस्त था। अब वह संसार के अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण तथा क्रियाशील जीवन के लिए उद्यत हो रहा था। समावर्तन के साथ ही विद्यार्थी का तपस्यापूर्ण जीवन समाप्त हो जाता था। तथा जीवन के अनेक सुख और विलास जो ब्रह्मचर्य जीवन में उसके लिए वर्जित थे, गुरु द्वारा उसे दिये जाते थे। सर्वप्रथम वह उसे सुगन्धित जल से स्नान करता था। उसके विभिन्न अंगों पर उबटन किया जाता था तथा इन्द्रियों की तृप्ति की इच्छा व्यक्त की जाती थीः 'मेरे श्वास निःश्वास को तृप्त कर, मेरे नेत्रों को तृप्त कर, मेरे कानों को तृप्त कर। ब्रह्मचारी अभी तक प्रक्षालित तथा अरंजित वस्त्रों को धारण करता था और पुष्प तथा माला धारण करना उसके लिए निषिद्ध था। आभूषण, अंजन, कर्णपूर, उष्णीष, छत्र, उपानह और दर्पण, जिनका प्रयोग विद्यार्थी के लिए वर्जित था, अब उसे विधिवत दिये जाते थे। जीवन में सुरक्षा के लिए उसे बाँस की छड़ी दी जाती थी। सम्पन्न संरक्षकों से उपर्युक्त सभी वस्तुओं के जोड़ देने की आशा की जाती थी- एक गुरु को, दूसरा विद्यार्थी को।

कतिपय लेखकों के अनुसार ब्राह्मण विद्यार्थी के लिए एक होम किया जाता तथा यह आशा व्यक्त की जाती थी कि स्नातक को अध्ययन के लिए बहुसंख्यक विद्यार्थी प्राप्त होगें। तब गुरु विद्यार्थी को उच्च सम्मान का सूचक मधुपर्क प्रदान करता था जो राजा, आचार्य, जमाता, ऋत्विज तथा प्रियजनों के लिए विहित था। अपनी नवीन वेषभूषा से अलंकृत होकर स्नातक विद्वानों के निकटतम समाज की ओर रथ अथवा हाथी पर आरूढ़ होकर जाता था। किन्तु कतिपय लेखकों के अनुसार संस्कार समाप्त होने पर स्नातक दिन भर सूर्य के प्रकाश से दूर तथा मौन रहता था। जब तक कि तारे न निकल आते। यह कृत्य इस बात का प्रतीक था कि संभवतः वह अपने प्रकाश से सूर्य को लज्जित नहीं करना चाहता था। तब वह पूर्व तथा उत्तर की ओर जाता तथा दिशाओं, नक्षत्रों तथा चन्द्र के प्रति सम्मान

व्यक्त करता, मित्रों से वार्तालाप करता तथा उस स्थान की ओर जाता था जहाँ उसे स्नातकोपयुक्त आदर प्राप्त होता।

समावर्तन संस्कार के सर्वेक्षण से सूचित होता है कि प्राचीन भारत में उन विद्वानों का कितना उच्च सम्मान था, जो अपनी शिक्षा समाप्त कर चुकते थे। गृह्यसूत्रों में उदधृत ब्राह्मण के एक वचन से विदित होता है कि स्नातक को एक महद्भुत अथवा शक्तिशाली व्यक्ति समझा जाता था।

आश्रम व्यवस्था का सामान्य महत्त्व :

आश्रम व्यवस्था का सामान्य महत्त्व अग्रलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है-

(1) वैयक्तिक जीवन का समुचित विकास :

आश्रम व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्ति के जीवनकाल को विभिन्न कर्त्तव्यों एवं आवश्यकताओं के अनुकूल विभाजित करके उसका समुचित विकास करना है। इसमें व्यक्ति अपने ज्ञान, अनुभव एवं कार्यशीलता का प्रयोग अपनी आयु के अनुसार करता है। यह वैयक्तिक जीवन को संगठित करने और उसे कार्यशील बनाने का सुन्दरतम प्रयास है।

(2) सामाजिक जीवन का आधार :

आश्रम व्यवस्था सामाजिक जीवन का आधार कही जा सकती है क्योंकि एक ओर इसे संस्कारों से जोड़ा गया है तो दूसरी ओर यह पुरुषार्थ से जुड़ी है। यह व्यक्ति के लिए मानसिक प्रेरणा का स्त्रोत है। प्रत्येक आश्रम व्यक्ति के जैविक-सामाजिक विकास की वे अवस्थाएँ कही जा सकती हैं, जिसमें व्यक्ति उस अवस्था के अनुसार पुरुषार्थ की साधना करता है और अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने की चेष्टा करता है।

(3) मानसिक स्थिरता में सहायक :

आश्रम व्यवस्था में व्यक्ति के दायित्व इस प्रकार से निश्चित कर दिए गए हैं कि व्यक्ति और समाज में किसी प्रकार का विरोध और संघर्ष न रहे। भारतीय मनीषियों ने संघर्ष को बचाने के लिए आश्रमों की व्यवस्था देकर व्यक्ति के कर्तव्यों को पहले ही निश्चित कर दिया है।

(4) सामूहिक कल्याण की प्रेरणा :

यद्यपि आश्रम व्यवस्था व्यक्तिगत जीवन से ही सम्बन्धित है पर इसमें व्यक्तिवादी भावना को प्रोत्साहन नहीं दिया गया है। इसमें कर्त्तव्य कुछ इस तरह से निर्धारित किये गये हैं जिसमें समूह के कल्याण को अधिक प्रेरणा और बल मिले। इसके द्वारा समाज के विभिन्न भागों को परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध कर दिया गया है कि बिना एक-दूसरे के उद्देश्य की प्राप्ति नहीं की जा सकती। इस प्रकार, यह व्यवस्था सामान्य कल्याण की प्रेरणा भी कही जा सकती है।

(5) व्यक्ति और समाज का समन्वय :

पी.एच. प्रभु ने आश्रम व्यवस्था के महत्त्व की चर्चा करते हुए कहा है कि व्यक्ति और समाज की परस्पर निर्भरता एवं समन्वय की दृष्टि से यह व्यवस्था बहुत महत्त्वपूर्ण है। वैसे तो हर एक आश्रम में व्यक्ति और समाज के दायित्व अलग-अलग हैं, पर वे एक-दूसरे पर पूर्णतः निर्भर हैं और एक का विकास दूसरे पर आधारित है।

(6) बौद्धिक विकास में सहायक :

आश्रम व्यवस्था व्यक्ति के बौद्धिक विकास का श्रेष्ठतम आधार है। सामाजिक मनुष्य का ज्ञान जीवनपर्यन्त चलता रहता है। समाज का सदस्य होने के नाते आश्रम व्यवस्था में व्यक्ति के जीवन को प्रारंभ में ही काफी लम्बे समय तक ज्ञान प्राप्त करने के लिए सुरक्षित कर दिया गया है।

(7) मानवतावादी गुणों का विकास :

आश्रम व्यवस्था का एक महत्त्व मानवीय गुणों के विकास से भी हैं, क्योंकि इससे मनुष्य में पवित्रता, सरलता, निष्ठा, त्याग, सहिष्णुता, सेवा, समानता, बन्धुता, उदारता और आध्यात्मिकता जैसे मानवीयता के गुण स्वाभाविक रूप से विकसित होते हैं।

(8) व्यावहारिक व्यवस्था :

आश्रम व्यवस्था स्वाभाविक व्यवस्था है जिसकी निश्चित सामाजिक उपयोगिता है। आश्रम का सम्बन्ध अलौकिक विश्वासों से नहीं वरन् कर्तव्यों से जुड़ा है। यह

व्यक्ति को नियंत्रित भी करती है और चालक शक्ति भी प्रदान करती है जिससे संपूर्ण समाज का कल्याण होता है। इसी के कारण व्यक्ति का जीवन परिश्रमशील बनता है । प्रत्येक आश्रम अपने आप में जीवन के व्यावहारिक पक्ष को समेटे हुए है । इसके माध्यम से उसमें समाज के लिए कार्य करने और त्यागमय जीवन व्यतीत करने का गुण सहज में ही विकसित हो जाता है । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आश्रम व्यवस्था समाज एवं व्यक्ति दोनों के लिए उपयोगी व्यवस्था है ।

सन्दर्भ सूची:

१. शर्मा, दीप्ति, भारतीय समाज एवं संस्कार, रितु पब्लिकेशन, जयपुर. प्रथम संस्करण-२०१३, पृ. ८६ - ८८
२. वही, पृ. ८६ - ८८
३. वही, पृ. ९२ – १९१
४. वही, पृ. १९२